



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2023; 9(2): 06-10

© 2023 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 08-12-2022

Accepted: 13-01-2023

अभय सिंह

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली, भारत

पाणिनीय व्याकरण में संज्ञा-स्वरूप

अभय सिंह

प्रस्तावना

“वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे” । निगमोक्त इस वचन के अनुसार वाक् इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का मूलकारण है। सम्पूर्ण जगत् नाम तथा रूप इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। नाम अथवा सञ्ज्ञा के बिना न केवल जागतिक व्यवहार अपितु शास्त्रीय व्यवहार भी नहीं चल सकता है। व्यवहार के लिये यह आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहें उसकी कोई न कोई सञ्ज्ञा अवश्य करें। ‘सञ्ज्ञा’ शब्द स्वयं इस अर्थ को सुपोषित भी करता है। ‘सम्यक् जानीयुर्यया सा सञ्ज्ञा’ = जिससे किसी पदार्थ का सम्यक् ज्ञान हो वह सञ्ज्ञा कहलाती है। व्याकरण शास्त्र में इन सञ्ज्ञाओं का प्रचुर प्रयोग प्रचलित है। पाणिनीय व पाणिनीयेतर व्याकरणों में सञ्ज्ञाओं का विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः कोई भी व्याकरण इन सञ्ज्ञाओं के बिना ‘लाघव’ के अपने सिद्धान्त को बनाये रखने में कृतकार्य नहीं हो सकता है। सञ्ज्ञा का प्रयोग ही लाघव के लिये किया जाता है।ⁱⁱ

पाणिनीय अष्टाध्यायी में छः प्रकार के सूत्र वर्णित हैं-

1. सञ्ज्ञा सूत्र
2. परिभाषा सूत्र
3. विधिसूत्र
4. नियमसूत्र
5. अतिदेशसूत्र
6. अधिकारसूत्र

इन सभी सूत्रों में सञ्ज्ञासूत्र अन्य सभी पञ्चविध सूत्रों के भूमिकास्थानीय होते हैं। अन्य सूत्रों की प्रवृत्ति सञ्ज्ञासूत्रों द्वारा ही प्रवर्तित होती है। ये सञ्ज्ञासूत्र सञ्ज्ञाओं के स्वरूप के कारण विविध प्रकार के होते हैं। इन्हें दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है-

१. महासञ्ज्ञा
२. लघुसञ्ज्ञा

इन दोनों संज्ञाओं के विभाजन का आधार प्रायः सञ्ज्ञाओं की अन्वर्थकता तथा यादृच्छिकता होती है।

Corresponding Author:

अभय सिंह

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली, भारत

महासञ्ज्ञा का स्वरूप

जिन सञ्ज्ञाओं को पाणिनि ने प्राचीन आचार्य-परम्परा से यथावत् ग्रहण किया है उन सार्थक सञ्ज्ञाओं को 'महासञ्ज्ञा' के नाम से अभिहित किया जाता है। भाष्यकार ने 'सर्वादीनि सर्वनामानि'ⁱⁱⁱ के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया है कि सञ्ज्ञा का स्वरूप लघुतम होना चाहिये तब इस 'महती सञ्ज्ञा' का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देते हुये स्वयं भाष्यकार ने कहा है 'अन्वर्थ सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत।' अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुरूप शब्द बनाने के लिये सूत्रकार ने बड़ी सञ्ज्ञाओं का ग्रहण किया है। अतएव पाणिनि की संयोग^{iv}, अनुनासिक^v, सवर्ण^{vi} आदि सञ्ज्ञाएं महासञ्ज्ञाओं की श्रेणी में आती हैं। वृद्धि आदि सञ्ज्ञाओं को कार्य की दृष्टि से 'आधेय' कहा जा सकता है। 'वृद्धि' आदि सञ्ज्ञा शब्दों का स्वसंज्ञी के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं। क्योंकि व्याकरण में शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। पाणिनि ने अपने वृद्धि^{vii}, गुण^{viii} आदि सञ्ज्ञा-विधायक सूत्रों में सञ्ज्ञा का तो निर्देश किया ही है, परन्तु जो कार्य विधि-सूत्रों द्वारा होता है वहाँ भी ये सञ्ज्ञासूत्र परिभाषा के बल से उपस्थित हो जाते हैं।^{ix} अतः पाणिनि के सञ्ज्ञा-विधायक सूत्रों तथा इनके विधिसूत्रों में परस्पर एकवाक्यता रहती है।

लघुसञ्ज्ञा का स्वरूप

जिन सञ्ज्ञाओं का प्रयोग आचार्य मात्र स्वरचित शास्त्रों में कार्य-निर्वाहार्थ करते हैं उन सञ्ज्ञाओं को 'लघु सञ्ज्ञा' के नाम से अभिहित किया जाता है। ये सञ्ज्ञाएँ आकार में लघु तथा अनन्वर्थक होती हैं इन्हें कृत्रिम संज्ञा भी कहा जाता है। पाणिनि की टि^x, घु^{xi}, भ^{xii}, आदि सञ्ज्ञाएँ लघु सञ्ज्ञाएँ हैं। ये सञ्ज्ञाएँ व्याकरण में प्रक्रिया के निर्वाहार्थ होती हैं। पदमञ्जरीकार हरदत्त ने भी इन कृत्रिम सञ्ज्ञाओं के प्रसंग में कहा है कि ये सञ्ज्ञायें लोक में हस्तचेष्टादि के समान संकेतरूप में शास्त्र में कार्यनिर्वाहक होती हैं।^{xiii} इन सञ्ज्ञासूत्रों का लक्षण किया जाता है कि सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी दोनों का जो नियामक है वह सञ्ज्ञासूत्र कहलाता है।^{xiv} स्वरूप की दृष्टि से सञ्ज्ञा दो प्रकार के होती है-

१. शाब्दी सञ्ज्ञा
२. आर्थी सञ्ज्ञा

सञ्ज्ञा सूत्रों में 'सञ्ज्ञा' और 'सञ्ज्ञी' दोनों का विधान है। सञ्ज्ञा में प्रयुक्त सञ्ज्ञी के शब्दविशेष होने से 'शाब्दी' तथा अर्थविशेष होने से 'आर्थी' सञ्ज्ञा होती है। सञ्ज्ञा तथा सञ्ज्ञी के भेद के विषय में भाष्यकार पतञ्जलि ने विशद

विवेचन महाभाष्य में प्रस्तुत किया है। जिनके भेद को निम्नरूप में समझा जा सकता है-

सञ्ज्ञा एवं सञ्ज्ञी

जिनकी आकृति न हो वह सञ्ज्ञा यथा प्रगृह्य सञ्ज्ञा की कोई आकृति नहीं होती जिनकी आकृति होती है वे सञ्ज्ञी यथा ईकार, ऊकारादि। सूत्र में प्रायः जिसका पहले उच्चारण किया जाता है वह सञ्ज्ञा यथा अदेङ्गुण में गुण सञ्ज्ञा। सूत्र में जिसका बाद में उच्चारण किया जाता है वह सञ्ज्ञी यथा अदेङ्गुण में अदेङ्।

जिनका विधिसूत्रों में बार बार कथन किया जाता है वह सञ्ज्ञा जैसे वृद्धि सञ्ज्ञा का बार बार कथन किया जाता है। किन्तु संज्ञी का विधि सूत्रों में बार बार कथन नहीं किया जाता है यथा आदैच् का कथन नहीं किया जाता है।

शाब्दी सञ्ज्ञा का स्वरूप

जब सञ्ज्ञी कोई शब्दविशेष अथवा वर्णविशेष होता है, तो उसे शाब्दी सञ्ज्ञा से अभिहित किया जाता है। पाणिनीय वृद्धि, गुण आदि सञ्ज्ञाएँ शाब्दी सञ्ज्ञाओं के अन्तर्गत आती हैं। पाणिनीय वृद्धि सञ्ज्ञा विधायक सूत्र में 'आदैच्' संज्ञी वर्णविशेष होने से यह सूत्र वर्णसञ्ज्ञापरक है। इसी प्रकार गुण सञ्ज्ञा बोधक सूत्र में भी 'अदेङ्' सञ्ज्ञी वर्णविशेष होने से यह सूत्र भी वर्णसञ्ज्ञापरक है।

अतएव पाणिनीय वृद्धि, गुण, संयोग^{xv}, अनुनासिक^{xvi} आदि सञ्ज्ञाविधायक सूत्रों में सञ्ज्ञीवर्ण विशेष होने से वर्णसञ्ज्ञापरक सूत्रों की श्रेणी में आते हैं।

आर्थी सञ्ज्ञा

जब सञ्ज्ञी अर्थविशेष होता है, तो उसे आर्थी सञ्ज्ञा से अभिहित किया जाता है। पाणिनीय विभाषा^{xvii}, लोप^{xviii}, सम्प्रसारण^{xix} आदि सञ्ज्ञाएँ आर्थी सञ्ज्ञाओं के अन्तर्गत आती हैं।

पाणिनीय 'विभाषा' सञ्ज्ञा से आर्थी सञ्ज्ञाएँ आरम्भ होती हैं। 'न वेति विभाषा' सूत्र का अर्थ है - न का जो निषेधार्थ तथा वा शब्द का जो विकल्पार्थ है, उसकी 'विभाषा' सञ्ज्ञा होती है। पाणिनीय लोप^{xx} सञ्ज्ञाविधायक सूत्र में अदर्शन, अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव, वर्णविनाश ये पर्यायवाची शब्द हैं।^{xxi} इन शब्दों से जो अर्थ कहा गया है, उसकी लोप सञ्ज्ञा होती है। यह अर्थ की सञ्ज्ञा है, शब्द की नहीं।

पाणिनीय व्याकरण में सञ्ज्ञाओं का महत्त्व

पाणिनीय व्याकरण में सञ्ज्ञाओं के विविध पक्ष हैं जिनके अध्ययन से उनके महत्त्व का पता चलता है। सञ्ज्ञाओं के महत्त्व को दो दृष्टियों से समझा जा सकता है।

१. स्थानिक महत्त्व
२. संरचनात्मक महत्त्व

स्थानिक महत्त्व

स्थानिक महत्त्व से अभिप्राय सञ्ज्ञासूत्रों की नियतानुपूर्वी (नियतक्रम) से है। अष्टाध्यायी में वृद्धि, गुण आदि कुल 185 सञ्ज्ञाविधायक सूत्र हैं। जो प्रथमाध्याय के 'वृद्धिरादैच्'^{xxii} आदि सूत्रों से लेकर अष्टमाध्याय के 'तस्य परमाप्रेडितम्'^{xxiii} तक विस्तृत हैं। अष्टाध्यायी में प्रत्येक सूत्र का विशिष्ट क्रम है। सञ्ज्ञासूत्र भी इस वैशिष्ट्य से भिन्न नहीं हैं। इसका उदाहरण है प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद में कारक प्रकरण। यहाँ 'कारके'^{xxiv} सूत्र के अधिकार में सर्वप्रथम 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'^{xxv} से 'अपादान' सञ्ज्ञा की गई है। इस प्रकरण के अन्त में 'स्वतन्त्रः कर्ता'^{xxvi} से 'कर्ता' सञ्ज्ञा होती है। 'कर्ता' के सभी कारकों से बलवान् होने के कारण कर्तृसंज्ञक सूत्र को अन्त में रखा गया है। क्रिया के जनक को कारक कहते हैं^{xxvii} अर्थात् क्रिया की निष्पत्ति (सिद्धि) में जो जो निमित्त होता है, सो सो कारक कहलाता है। दूसरे निमित्तों के होते हुए भी जब तक क्रिया करने वाला कर्ता ही न होगा, तब तक क्रिया की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। दूसरे निमित्तों का व्यापार भी कर्ता के अधीन है जब चाहे वह उस व्यापार को हटा सकता है, अतः मुख्य कारक 'कर्ता' ही है। जो पदार्थ क्रिया में स्वतन्त्र माना गया हो वह भी 'कर्ता' होता है, न कि जो वस्तुतः स्वतन्त्र हो वह ही। इससे 'करण' आदि कारक भी कर्ता हो जाते हैं जब वक्ता को उन्हें क्रिया में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र दिखलाने की और कर्ता की अनपेक्षा बतलाने की इच्छा हो। यथा- काष्ठानि पचन्ति।

संरचनात्मक महत्त्व

'न वेति विभाषा'^{xxviii}- यह सूत्र 'न' शब्द के 'निषेध' रूपी अर्थ तथा 'वा' शब्द के 'विकल्प' रूपी अर्थ की 'विभाषा' सञ्ज्ञा करता है। व्याकरण शास्त्र में 'शब्द' की सञ्ज्ञा की जाती है।^{xxix} 'न वेति' में इतिकरण अर्थनिर्देशार्थ है। इससे न तथा वा शब्दों का जो 'निषेध' और 'विकल्प' रूपी अर्थ है उसी की 'विभाषा' सञ्ज्ञा होती है। 'इति' शब्द भी 'वेति' अर्थात् वा से सम्बद्ध होते हुये भी देहली-दीपकन्याय से 'न' से भी सम्बद्ध होता है। विभाषा विधायक सूत्रों में निषेध और विकल्प दोनों उपस्थित होते हैं। जैसे- 'विभाषा श्वेः'^{xxx}

यह विभाषा तीन प्रकार की होती है - अप्राप्ता, प्राप्ता, प्राप्ताप्राप्ता। अप्राप्तविभाषा में 'वा' उपस्थित होता है, यहाँ निषेध का कोई प्रयोजन न होने के कारण। प्राप्तविभाषा में पहले निषेध की प्राप्ति होती है पुनः 'वा' के द्वारा विकल्प किया जाता है। प्राप्ताप्राप्तविभाषा में दोनों उपस्थित होते हैं।

यहाँ भाष्यकार की ये पंक्तियां अवधेय हैं- 'आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति- बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषामिति'^{xxxi}।

भाष्यकार की इन पंक्तियों से 'न वेति विभाषा' सूत्र का खण्डन माना जाता है, क्योंकि अष्टाध्यायी में जिसकी विभाषा-सञ्ज्ञा है, उसमें 'अन्यतरस्याम्' आदि भिन्न शब्दों से भी विभाषा का कार्य किया जाता है। व्याकरण परम्परा में 'वा' 'अन्यतरस्याम्' तथा 'विभाषा' शब्दों को समानार्थक माना जाता है। 'पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते' परिभाषा के द्वारा इनकी समानार्थकता का पोषण किया जाता है। किन्तु एक पाश्चात्य विद्वान् पौल क्वात्स्की ने इससे इतर विचार प्रस्तुत करते हुये 'वा' 'विभाषा' 'अन्यतरस्याम्' इन तीनों शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है- "पाणिनि ने 106 बार 'वा' का 112 बार 'विभाषा' का 93 बार 'अन्यतरस्याम्' का प्रयोग किया है। एक शब्द के रहते यह इतनी विविधता क्यों? इस प्रश्न का उत्तर आश्चर्यजनक है जो हजारों वर्षों से अनुत्तरित रहा है। परम्परा के विरुद्ध ये तीनों शब्द समानार्थी न होकर एक दूसरे की अपेक्षा भाषिक प्रयोग में अपनी प्राथमिकता सिद्ध करते हैं।"

Paul Kiparsky वा, विभाषा, अन्यतरस्याम् के अर्थों को कुछ इस प्रकार प्रकट करते हैं^a

वा- भाषिक प्रयोग में अधिक उपयुक्त अथवा प्राथमिक (or rather, usually, preferably)

विभाषा- भाषिक प्रयोग में कम उपयुक्त अथवा द्वितीयक (or rather not, rarely, , preferably not, marginally)

अन्यतरस्याम्- वैकल्पिक (either way, sometimes, optionally, alternatively)

अपनी स्थापना के पक्ष में Paul Kiparsky कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं के शब्दों में-

^^Suppose we were to describe the formation of past participles in contemporary American English.

We would say that in the three verbs *hide*, *mow*, and *sew* the suffix (*e*)*i* is found in optional use:

I have hid/hidden the key.
I have mowed/mown the lawn.
I have sewed/sewn the button.

This would be the truth, but not the whole truth. An accurate description of usage would have to indicate that in the first case, the -en form hidden is definitely the preferable option, in the second case the -en form mown is only marginally acceptable, and in the third case both variants are about equally current.

इसी प्रसंग में Paul Kiparsky पाणिनीय व्याकरण का भी उदाहरण देते हैं। उनका कथन है - 'वा द्रुहमुहण्णुहण्णिहाम्' सूत्र में वैकल्पिक घत्वविधि को लागू करने पर बनने वाले रूप- द्रुग्ध, मुग्ध, स्तुग्ध, स्निग्ध आदि, घत्वविधि के लागू न होने पर बनने वाले रूपों की अपेक्षा भाषिक प्रयोग में अधिक उपयुक्त हैं। इसके विपरीत "ऊर्णातिर्विभाषा" से होने वाले वृद्धिनियम में यह स्थिति ठीक विपरीत है। यहां वृद्धिविधि के लागू न करने से बनने वाले 'ऊर्णाति' रूप को वृद्धि होने के बाद बनने वाले रूप 'ऊर्णाति' से अधिक उपयुक्त माना गया है। इसका पता वैदिक से लेकर लौकिक संस्कृत वाङ्मय में किये गये प्रयोगों को देखकर चलता है। जहां 'ऊर्णाति' की अपेक्षा 'ऊर्णाति' का प्रयोग अधिक हुआ है।

पाणिनीय व्याकरण में एक और तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हुये Paul Kiparsky कहते हैं कि "पाणिनि द्वारा इन तीनों रूपों के भिन्न अर्थों का व्यवस्थित संकेत अपने शास्त्र में न देने पर हमें कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि हम समझेंगे कि पाणिनि किस प्रकार अपने शास्त्र में अव्याकरणिक-कारकों के आधार पर भी विविध भाषिक प्रयोगों को स्थान देते हैं। जैसे-

क्षेत्रीय आधार - प्राचाम्, उदीचाम्

शैलीगत आधार - छन्दसि, भाषायाम् ।

सामाजिक आधार - प्रत्यभिवादेऽशूद्रे

व्यावहारिक आधार - आक्रोशे, कुत्सने ।

भाषिक प्रयोगों के प्रति यह उन्मुखता देखकर कहा जा सकता है कि अष्टाध्यायी अपूर्ण कहलायेगी यदि उसके पास भाषिक उपयुक्तता के इन प्रयोगों के बारे में कहने के लिये

कुछ नहीं जिनका कोई क्षेत्रीय, शैलीगत, सामाजिक अथवा व्यावहारिक आधार भी दिखाई नहीं देता।"

Paul Kiparsky का स्पष्ट मत है कि जहां पाणिनि किसी प्रयोग की प्राथमिकता अथवा उपयुक्तता प्रकट करना चाहते हैं वहां पाणिनि 'वा' का, जहां अनुपयुक्तता अथवा द्वितीयकता प्रकट करना चाहते हैं वहां 'विभाषा' तथा जहां समान प्रयोगार्हता प्रकट करनी होती है वहां 'अन्यतरस्याम्' का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संज्ञाओं का प्रयोग न केवल व्यावहारिक जगत् में होता है अपितु इनका प्रयोग व्याकरणादि शास्त्रों में भी होता है पाणिनीय व्याकरण में जहां ये सामान्य से पृथक्करण का कार्य करती हैं वहीं ये अपने विशेष स्वरूप के कारण अर्थवैशिष्ट्य को भी प्रकट करती हैं। संज्ञाओं में जहां वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को प्रकाशित करने की शक्ति होती है वहीं वे अर्थभेद को भी प्रकट करती हैं

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. Cardona, George. Panini: A survey of research. Delhi: Motilal Banarasi Das; c1975.
2. Cardona, George. Recent research in Paninian studies. Delhi: Motilal Banarasi Das; c2004.
3. Kiparsky, Paul. Panini as a variationist. Puna: center of advance study in Sanskrit, University of Puna; c1980.
4. ईश्वरचन्द्र. अष्टाध्यायी. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004.
5. ईश्वरचन्द्र. काशिकावृत्ति. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2010.
6. दयालु, विश्वम्भर. पाणिनिसंज्ञासूत्रविमर्श. दिल्ली: जे-पी-पब्लिशिंग हाउस, 2012.
7. द्विवेदी, जानकीप्रसाद. पाणिनीय व्याकरणे शास्त्रीयसंज्ञानां तात्पर्यविमर्श. वाराणसी: संस्कृत विश्वविद्यालय, 1967.

ⁱ ऋ. १०.७१.१

ⁱⁱ यतोऽन्यल्लघीयो न तादृशं नाम सञ्ज्ञा, उद्योत, पृ० ३३१

सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः' 'लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम्' महा०, पृ० ३३१

ⁱⁱⁱ अष्टा०, 1.1.27, पृ० 12

^{iv} अष्टा०, 1.1.7 पृ०, 7

^v तत्रैव, 1.1.8 पृ०, 7

^{vi} तत्रैव, 1.1.9 पृ०, 7

- vii तत्रैव, 1.1.1 पृ०,5
- viii तत्रैव, 1.1.2 पृ०,5
- ix पारि०, २, पृ० १
- x अष्टा०, 1.1.64 पृ०,24
- xi तत्रैव, 1.1.20 पृ०,1०
- xii तत्रैव, 1.4.18 पृ०,71
- xiii हस्तचेष्टा यथालोके तथा संकेतिता इमाः। पद०,पृ०७
- xiv 'सञ्ज्ञासंज्ञिनियामकत्वं सञ्ज्ञासूत्रत्वम्'
- xv अष्टा०, 1.1.८ पृ०,०१
- xvi तत्रैव, 1.1.८ पृ०, ०१
- xvii तत्रैव, 1.1.४३ पृ०,०२
- xviii तत्रैव, 1.1.५९ पृ०,०२
- xix तत्रैव, 1.1.४४ पृ०,०२
- xx तत्रैव, 1.1.60 पृ०,23
- xxi जयादित्यवामन. काशिका. सं. विजयपाल विद्यावारिधि, प्रथम संस्करण, सोनीपतः रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1997
- xxii अष्टा०, 1.१.१ पृ०,१
- xxiii अष्टा०, ८.१.२ पृ०,८०
- xxiv अष्टा०, 1.4.23 पृ०,72
- xxv अष्टा०, 1.4.24 पृ०,72
- xxvi अष्टा०, 1.4.54 पृ०,79
- xxvii क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्
- xxviii अष्टा०, 1.1.44 पृ०, 17
- xxix स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा, १.१.६७
- xxx अष्टा०, 6.1.30 पृ०, 548
- xxxi "न वेति विभाषा" पतञ्जलि. महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित. सं. श्री वेदव्रत, प्रथम संस्करण, झज्जर: हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, 2000.